दैनिक भास्कर

Date: 19-12-24

पर्यावरण सुधार भारत के लिए ज्यादा जरूरी हैं

संपादकीय

जलवायु परिवर्तन, खासकर चरम तापमान का सबसे ज्यादा खतरा भारत जैसे उन देशों को है, जो मुख्यतः ऊष्णकटिबंधीय माने जाते हैं। यूएन की 'एमिशन गैप रिपोर्ट 2024' के अनुसार भारत में 35 डिग्री सेंटीग्रेड से ज्यादा तापमान ऐतिहासिक रूप से 80 दिन रहता था, जो अगर पर्यावरण असंतुलन न रुका तो करीब 97 दिन हो जाएगा। इसका सीधा असर कृषि में उत्पादन और मानव - क्षमता पर पड़ेगा। फसल चक्र बदलना मजबूरी होगी। प्रमुख फसल गेहूं और चावल के अलावा सब्जियों और दलहन के उत्पादन में कमी आएगी। वहीं ठंडे मुल्कों में तापमान वृद्धि का असर उतना नहीं होगा, जितना अपेक्षाकृत गर्म देशों में। यह कड़वा सच है कि बगैर सोचे-समझे औद्योगीकरण करके पिछले 300 वर्षों में पर्यावरण असंतुलन की जन्मदाता पश्चिमी दुनिया रही है। पिछले माह हुई सीओपी - 29 का कोई खास परिणाम नहीं निकला। भारत ने पिछले दो दशकों में अपने कार्बन उत्सर्जन स्तर की वृद्धि में गिरावट दर्ज की है । बहरहाल, जब तक पश्चिमी संपन्न देश आने वाले खतरे के प्रति अपनी नैतिक जिम्मेदारी निभाते हुए व्यापक फंडिंग नहीं करेंगे, विकासशील देश अपने विकास को अवरुद्ध कर ऊर्जा के स्वच्छ किन्तु महंगे स्रोतों पर शिफ्ट नहीं कर पाएंगे।

Date: 19-12-24

चुनावों के बार-बार होने से क्यों समस्या होनी चाहिए?

शशि थरूर, (पूर्व केंद्रीय मंत्री और सांसद)

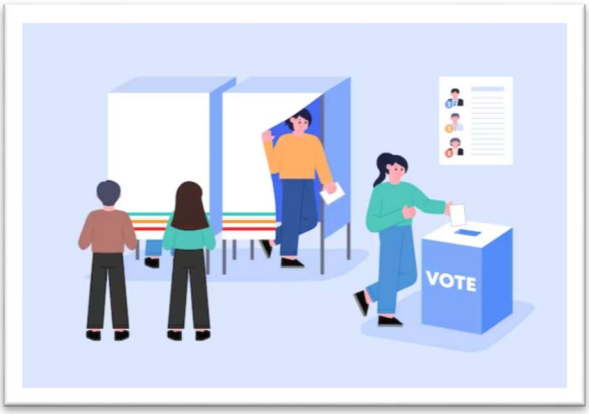

भारतीय लोकतंत्र की खूबी यह है कि यहां हमेशा चुनाव होते रहते हैं। अलबत्ता कुछ लोग इसे खूबी के बजाय खामी भी कहते हैं। इस साल लोकसभा चुनावों की चहल-पहल खत्म होते-होते अनेक राज्यों में महत्वपूर्ण चुनाव भी सम्पन्न हुए और उनके नतीजों ने विश्लेषकों और राजनेताओं को चकित भी किया और उनके प्रति उत्सुकता भी जगाई। इससे यह भी पता चला कि भारत के मतदाता किसी परिपाटी पर नहीं चलते हैं और वे पूर्वानुमानों को झुठलाने में सक्षम हैं। हरियाणा, जम्मू-कश्मीर, महाराष्ट्र और झारखण्ड के चुनाव लोकसभा चुनावों के

बाद हुए हैं और अब दिल्ली के चुनावों की बारी है। संक्षेप में, भारत के सभी 28 राज्यों और 7 केंद्र-शासित प्रदेशों में अपनी सरकार के चयन के लिए लगातार चुनाव होते रहते हैं।

लेकिन सरकार का मानना है कि भारत में चुनावों को लेकर बनी रहने वाली अनिश्चितता अब सीमा पार कर चुकी है और इन हालात को बदलने के लिए कुछ किया जाना चाहिए। प्रधानमंत्री एक निर्धारित चुनाव-शेड्यूल चाहते हैं, जिसमें लोकसभा, विधानसभाएं और नगरीय-निकाय- सभी के लिए हर 5 साल में एक दिन, एक साथ वोट पड़ें। पूर्व राष्ट्रपति रामनाथ कोविंद की अध्यक्षता में एक समिति ने इस बारे में रिपोर्ट प्रस्तुत की है और इस विचार को 'वन नेशन, वन इलेक्शन' या 'एक देश, एक चुनाव' का नाम दिया गया है।

चुनावों का बार-बार होना वास्तव में केंद्र सरकार के लिए चुनौती हो सकती है। एक बात यह है कि स्थानीय चुनाव मुख्य रूप से स्थानीय मुद्दों से संबंधित होते हैं, लेकिन उनके परिणामों को अकसर केंद्र सरकार पर जनमत-संग्रह के रूप में देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि चुनावों के दौरान शासन-व्यवस्था ठप्प हो जाती है, क्योंकि चुनाव आयोग की आदर्श आचार संहिता नेताओं को ऐसी नीतिगत घोषणाएं करने से रोकती है, जो मतदाताओं को उनका समर्थन करने के लिए प्रेरित कर सकती हों। इसके अलावा, राष्ट्रीय नेता चुनाव वाले राज्यों में प्रचार में व्यस्त हो जाते हैं। इनमें से हर राज्य का अपना राजनीतिक इतिहास होता है और उनकी अपनी क्षेत्रीय पार्टियां होती हैं। मोदी और शाह अपने कार्यकाल के दौरान अंतहीन चुनाव-प्रचार अभियानों में शामिल रहे हैं, जिससे उन्हें अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वाह के लिए बहुत कम समय मिल पाता है।

मोदी का यह भी तर्क है कि लगातार चुनाव पैसे और समय दोनों की बर्बादी करते हैं। उन्हें यह भी लगा होगा कि एक साथ चुनाव कराने से राष्ट्रीय मुद्दों को राज्य के चुनावों में बढ़ावा मिल सकता है। विपक्ष इसे खारिज करते हुए कहता है कि यह भारत के संघवादी स्वरूप व उसकी विविधता को कुचलने का प्रयास है।

लेकिन एक देश, एक चुनाव के विचार के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि यह अव्यावहारिक है। हम इसे अतीत में आजमा चुके हैं। स्वतंत्रता के बाद, भारत ने एक ही चुनाव-दिवस की स्थापना की थी, लेकिन यह व्यवस्था 1952 से 1967 तक केवल 15 वर्ष ही चली। इसका कारण भारत की संसदीय प्रणाली के एक मूल विचार में निहित है : सरकारों के लिए अपना बहुमत बनाए रखने की अनिवार्यता। अगर कोई सरकार कार्यकाल पूरा होने से पहले बहुमत खो देती है, तो नए सिरे से चुनाव कराए जाते हैं। वहीं कोई सरकार अपने बहुमत को और बढ़ाने की उम्मीद में समय से पहले चुनाव भी करवा सकती है।

ऐसा अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग समय पर हुआ, और केंद्र में भी कई बार हुआ। और ऐसा होता रहेगा, खास तौर पर इसलिए क्योंकि कई राज्यों में गठबंधन सरकारें हैं। यहां तक कि केंद्र की सरकार भी आज गठबंधन से चल रही है और यह गठबंधन कभी भी टूट सकता है। किसी सरकार का नए सिरे से चुनावी जनादेश के बिना सत्ता में बने रहना अलोकतांत्रिक है। एक देश, एक चुनाव का विचार प्रेसिडेंशियल यानी राष्ट्रपति-शैली के चुनावों में ही कारगर लगता है, जिसमें किसी चीफ एग्जीक्यूटिव की तरह नेता का चयन किया जाता हो। लेकिन केंद्र सरकार ऐसी किसी शैली की वकालत नहीं कर रही है।

भारत के लोकतंत्र में आस्था रखने वालों ने लंबे समय से खुद को यह विश्वास दिलाया है कि राष्ट्रपति-प्रणाली तानाशाही को बढ़ावा देगी, और इसलिए इसका विरोध किया जाना चाहिए। लेकिन संसदीय प्रणाली ने भी अलग तरह की समस्याओं

को जन्म दिया है। कार्यपालिका अपने बहुमत को हथियार की तरह इस्तेमाल करती है। जबकि राष्ट्रपति-प्रणाली में कार्यपालिका एक स्वतंत्र विधायिका के प्रति जवाबदेह होती है; वह विधायिका का इस्तेमाल रबर स्टैंप के रूप में नहीं कर सकती।

Date: 19-12-24

गठबंधन सरकारें बहुमत के बावजूद लड़खड़ाती रही हैं

अभय कुमार दुबे, (अम्बेडकर विवि, दिल्ली में प्रोफेसर)

गठबंधन-राजनीति में केवल संख्याबल से ही सरकार स्थिर नहीं रहती। गठजोड़-सहयोगियों के समन्वय, उनके नेताओं की महत्वाकांक्षाओं और राजनीतिक फायदे-नुकसान से जुड़ी रणनीतियों के उतार-चढ़ाव से तय होता है कि सरकार ज्यादा दिन चलेगी या नहीं चलेगी। ऐसा कई बार हो चुका है कि कोई गठबंधन चुनाव में शानदार जीत हासिल करता है, लेकिन उसकी सरकार पर अस्थिरता की तलवार लटकती है। 2015 में बिहार में बनी महागठबंधन की सरकार इसका सबसे प्रभावी उदाहरण है। लालू, नीतीश, कांग्रेस और वामपंथियों के इस गठजोड़ ने भाजपा को केवल 53 सीटों पर समेट दिया था। लेकिन सरकार बनते ही उसमें सत्ता के दो केंद्र हो गए। तेजस्वी यादव उपमुख्यमंत्री के तौर पर अपने विधायकों की बैठक अलग से करने लगे। उनके और मुख्यमंत्री की तरफ से एक-दूसरे को काटने वाले आदेशों का सिलसिला शुरू हो गया। अफसरशाही की निष्ठाएं भी डावांडोल हो गईं। देखते ही देखते नीतीश की एनडीए में वापसी हो गई और तगड़ा बहुमत होने के बावजूद महागठबंधन का प्रयोग बुरी तरह से फ्लॉप रहा।

नब्बे के दशक में यूपी की राजनीति में भाजपा ने मायावती के साथ गठजोड़ सरकार बनाने के तीन प्रयोग किए, लेकिन हर बार सरकार की उम्र बहुत कम निकली। ये सभी सरकारें विपक्ष की राजनीति के दबाव से नहीं गिरी थीं। उनके अपने अंतर्विरोध उन पर भारी पड़ गए थे। यहां प्रश्न यह है कि महाराष्ट्र में बनी महायुति सरकार पर भी बिहार और यूपी के ये अंदेशे लागू होते हैं या नहीं? क्या चुनावों में शानदार जीत से मिला असाधारण बहुमत गठबंधन-सहयोगियों के खुले और छिपे इरादों के बावजूद उसे टिका पाएगा?

याद कीजिए, भाजपा विधायक दल का नेता चुने जाने के बाद देवेंद्र फडणवीस ने क्या कहा था? उनके शब्द थे, ‘मुख्यमंत्री का पद तो एक तकनीकी व्यवस्था है। सरकार हम तीनों मिलकर चलाएंगे।’ सामान्य तौर पर सरकार कोई भी हो, मुख्यमंत्री अपने मंत्रियों से मिलकर ही सरकार चलाता है। लेकिन मंत्री न उसकी ‘अथॉरिटी’ में हिस्सा बंटाते हैं, और न ही उनकी और मुख्यमंत्री की ‘अथॉरिटी’ बराबर की होती है। क्या यहां फडणवीस के कहने का मतलब यह नहीं निकलता कि मुख्यमंत्री और दोनों उपमुख्यमंत्रियों के पास समान अधिकार होंगे? अगर स्थिति यही है तो इस सरकार में सत्ता के तीन केंद्र होंगे।

महाराष्ट्र की राजनीतिक परिस्थिति की विशिष्टता केवल यहीं खत्म नहीं होती। चूंकि एकनाथ शिंदे उपमुख्यमंत्री पद लेने के लिए तैयार नहीं थे, इसलिए फडणवीस को उन्हें यह आश्वासन भी देना पड़ा कि सरकार में उनका दखल वैसा ही रहेगा, जैसा मुख्यमंत्री के रूप में उनका था। अगर यह सही है तो सत्ता के तीन केंद्रों में अजित पवार का केंद्र सबसे

कमजोर होने के कारण फडणवीस की मातहती में रहेगा। लेकिन शिंदे का केंद्र उनके ढाई साल के मुख्यमंत्रित्व के कारण सत्ता के समांतर-केंद्र की हैसियत ग्रहण कर लेगा।

भाजपा चाहती तो केवल पवार की मदद से ही, शिंदे के बिना भी बहुमत की सरकार बना सकती थी। वह सरकार ज्यादा मजबूत हो सकती थी। उसमें फडणवीस की 'अथॉरिटी' के लिए चुनौती न्यूनतम होती। लेकिन चुनाव में सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करने के बावजूद भाजपा महाराष्ट्र की राजनीति में अपना अकेला दबदबा बनाने में खुद को अभी एक कदम पीछे पाती है। शिवसेना को विभाजित करने से जुड़ा उसका मकसद अभी सौ फीसदी पूरा नहीं हुआ है। उद्धव का प्रदर्शन बहुत खराब रहा, लेकिन इसके बावजूद उन्होंने मुम्बई की 20 में से 10 सीटें जीत लीं। यानी, बृहन्मुम्बई महानगर पालिका को भाजपा बिना शिंदे की मदद के उद्धव ठाकरे से छीनने को लेकर आश्वस्त नहीं है।

दूसरे, 288 की विधानसभा में 124 मराठा विधायक चुनकर पहुंचे हैं। मराठा आरक्षण आंदोलन जिस समय अपने उठान पर था, वह भाजपा और फडणवीस को अपना निशाना बनाता था। शिंदे के प्रति उसका रुख नरम रहता था। चुनाव में शरद पवार के पराभव के बाद शिंदे महाराष्ट्र से मराठा समुदाय के नए नेता समझे जा रहे हैं। समुदाय की निगाह में अजित पवार अपने चाचा द्वारा खाली की गई जगह भरने लायक नहीं हैं। यह एक बड़ा सामाजिक-राजनीतिक कारण है, जिसकी वजह से शिंदे को सरकार में शामिल करना जरूरी था। फडणवीस का पिछला कार्यकाल बताता है कि वे अपनी 'अथॉरिटी' का सौ फीसदी उपभोग करना पसंद करते हैं। लेकिन इस बार उन्हें काफी लचीलापन दिखाना होगा। कई बार ऐसी बातें भी माननी पड़ेंगी जो वे अन्यथा न मानते।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 19-12-24

अवैध कब्जों की राजनीति

संपादकीय

सुप्रीम कोर्ट ने बिना पूर्णता और अधिवास प्रमाणपत्र के फ्लैट या मकान पर कब्जा न देने का सभी राज्य सरकारों को निर्देश दिया है । मानचित्र पास करते समय ही बिल्डर या प्लॉट के मालिक से इसका वचन-पत्र लिया जाए। इस प्रमाणपत्र के आधार पर ही बिजली-पानी, सीवर का कनेक्शन दिया जाए। बैंकों से भी कहा है कि स्वीकृत मानचित्र वाली प्रापर्टी पर ही कर्ज दिया जाए। उप्र के मेरठ के शास्त्री नगर में रिहाइशी प्लाट पर दुकानों के निर्माण पर सख्त कार्रवाई का आदेश देते हुए कई दुकानें ढहाने का आदेश भी शीर्ष अदालत ने दिया। अदालत ने 2014 में इलाहाबाद हाई कोर्ट के फैसले को जायज बताते हुए

कहा कि बिना आवास विकास के इंजीनियरों की मिलीभगत के इतने बड़े स्तर पर अवैध निर्माण संभव नहीं । अवैध कब्जों के प्रति सरकारी रवैया ढुलमुल रहा है। मकान पर कब्जा देने संबंधी जो निर्देश शीर्ष अदालत ने दिए, वे पहले भी नियमों में शामिल हैं। मगर सरकारी लापरवाही और विभागों की मिलीभगत के चलते उनकी अनदेखी होती है। इसके लिए तत्कालीन सरकार भी अधिकारियों के साथ दोषी है। अवैध निर्माण को गिराना हमेशा समस्या का समाधान नहीं होता । तथाकथित अवैध मालिकान, जो इन प्रापर्टियों को अपना बता कर बेच गए, से वसूली कैसे होगी। क्या सारा खमियाजा सिर्फ वर्तमान अवैध मालिकों को भोगना होगा। आवास विकास परिषद भू-माफिया के साथ मिलीभगत कर सरकारी जमीनों पर साजिशन कब्जे करवाती है। जिन कब्जेदारों को जमीनें नियमित करवाने का प्रलोभन दे कर राजनीतिक दल अपने मकसदों में कामयाब होते हैं। बेशक, सरकारी जमीनों पर अवैध कब्जों को लेकर राजनीतिक दल अपने वोट बैंक को प्राथमिकता देकर ही बात करते हैं। निस्संदेह किन्हीं कारणों या आपसी झगड़ों के चलते यह मामला कानून की नजरों में आया होगा परंतु जिन तमाम जमीनों पर पुश्तों से अवैध कब्जे हैं, उन्हें मुक्त कराने के प्रति सरकारें लापरवाह क्यों हैं? उन्हें अपनी जमीनों का लेखा- जोखा सुव्यवस्थित रखने के प्रति जवाबदेह क्यों नहीं होनी चाहिए। उन अवैध कब्जेदारों को छूट मिलनी चाहिए जो कानून के शिकंजे से दूर रह गए हैं। सरकारी महकमों को अवैध कब्जों के प्रति जवाबदेह बनाने का जिम्मा अदालत ही निभा सकती है वरना तो खुद सरकारें हमेशा यूं ही आंखें मूंदे रहेंगी।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 19-12-24

कैंसर का मुफ्त टीका

संपादकीय

रूस ने यह घोषणा करके दुनिया को चौंका दिया कि उसने कैंसर के इलाज के लिए अपना खुद का एमआरएनए आधारित टीका विकसित कर लिया है, जो 2025 की शुरुआत से देश के मरीजों के लिए मुफ्त उपलब्ध हो जाएगा। वह टीका शरीर में प्रतिरक्षा प्रतिक्रिया पैदा करेगा। यह प्रतिरक्षा प्रतिक्रिया पैदा करने के लिए मैसेंजर आरएनए (एमआरएनए) नामक अणु की एक प्रतिलिपि का उपयोग करेगा। खास बात यह है कि रूस में यह टीका सभी कैंसर रोगियों को मुफ्त में दिया जाएगा। ऐसा लग रहा है कि यूक्रेन के खिलाफ युद्ध में लगे रूस ने बड़ी कामयाबी हासिल की है। कामयाबी की पुष्टि वहां के स्वास्थ्य मंत्रालय ने भी की है। यह रूसी लोगों के लिए बड़ी खुशखबरी है, जो दो-तीन वर्षों से अच्छी खबरों के लिए तरस गए हैं। परीक्षणों में वह साफ हो गया है कि कैंसर का यह टीका शरीर में ट्यूमर के विकास और उसकी आशंका को दबा देता है। अगर वाकई ऐसा संभव हो जाएगा, तो यह दुनिया के लिए किसी क्रांति से कम नहीं होगा।

दूसरी खास बात यह है कि यह टीका व्यक्ति या मरीज की शारीरिक जरूरत के अनुरूप तैयार किया जा सकता है। मतलब एक ही टीका सभी को नहीं दिया जाएगा। कोरोना वैक्सीन को लेकर यह शिकायत बहुत आम रही थी कि इसके वैक्सीन ने किसी पर बहुत अच्छी तरह काम किया है, तो किसी को नुकसान पहुंचाया। ऐसे में, तमाम टीकों को लेकर यह नई चर्चा शुरू हो गई है कि कोई भी टीका मरीज को जरूरत के हिसाब से ही दिया जाए। यह व्यक्तिपरक या

'पर्सनलाइज्ड' टीका वक्त की बड़ी जरूरत है। लोगों शरीर की क्षमता समान नहीं होती है, अतः किसी दवा को झेलने की क्षमता कैसे समान हो सकती है? वैज्ञानिकों के अनुसार, रूस में विकसित कैंसर का टीका लगभग एक घंटे के भीतर मरीज की जरूरत के अनुसार तैयार किया जा सकता है। पहले इस काम के लिए काफी समय लगता था, पर अब वैज्ञानिक इस समय को लगातार घटाते चले जा रहे हैं। अन्य दवाओं के मामले में भी ऐसे ही प्रयोग को आगे बढ़ाना चाहिए। नया दौर जरूरत के अनुरूप दवाओं के विकास का होना चाहिए और इस काम में एआई या तकनीक का बेहतर इस्तेमाल होने लगा है। कहना ही चाहिए कि रूस के वैज्ञानिक एक समय अपने प्रयोगों के मामले में बहुत आगे रहे हैं। युद्ध की वजह से वहां विज्ञान का बजट प्रभावित हुआ है, अतः यहां भी हम यह उम्मीद तो कर ही सकते हैं कि बुद्ध जल्दी खत्म होगा और रूस दुनिया को खुशहाल और सेहतमंद बनाने की दिशा में ज्यादा काम करेगा।

ध्यान देने की बात है कि कैंसर के खिलाफ वैक्सीन बनाने की कोशिशें सौ साल से भी ज्यादा पुरानी हैं। अभी भी दस से ज्यादा प्रकार के कैंसर के लिए दस से ज्यादा प्रकार के वैक्सीन उपलब्ध हैं। इसके बावजूद दुनिया में सौ से ज्यादा संस्थानों में कैंसर के इलाज पर प्रयोग जारी हैं। रूस की बात करें, तो साल 2008 में वहां किडनी के कैंसर का टीका तैयार किया गया था। कहना ही चाहिए कि कैंसर एक बड़ी महामारी बन चुका है। साल 2022 में दुनिया में इसकी वजह से 97 लाख से ज्यादा लोगों की जान गई थी और कैंसर के दो करोड़ नए मामले सामने आए थे। ये आंकड़े डराते हैं और प्रेरित करते हैं कि दुनिया के विकसित देश अपने फिजूल के खर्च रोककर अपने ज्यादा से ज्यादा धन व संसाधन का उपयोग दवाओं के विकास में करें, ताकि यह दुनिया रहने लायक अच्छी जगह बनी रहे।